'तद्भव' में प्रकाशनार्थ : अखिलेशजी के ध्यानार्थ

बनता-बिगड़ता सबाल्टर्न बनाम साहित्य और समाज विज्ञान के संबंधों की समस्या

अभय कुमार दुबे

मैं तु हारी बातें क्यों सुनने लगा! तुम अपने बारे में जो बोल सकते हो उससे कहीं बेहतर चर्चा मैं तु हारे बारे में कर सकता हूँ। तु हारी आवाज़ सुनने की जरूरत ही क्या है। तुम तो केवल अपनी पीड़ा बताओ। मेरा मकसद तु हारी कहानी जानना है। फिर मैं उसी कहानी को तु हें एक नए तरीके से सुनाऊँगा। इस तरह कि वह मेरी हो जाएगी, मेरी अपनी। तु हें लिखते समय मैं खुद को नए सिरे से लिखूँगा। लेकिन लेखक भी मैं रहूँगा, और प्राधिकार भी। मैं बोलने वाला कर्त्ता हूँ जिसकी चर्चा के केंद्र में तुम हो। तुम, जो अभी भी मेरे उपनिवेश हो।[1]

यह उद्धरण विचारों की दुनिया में बेचैनी पैदा कर देता है। वीरेंद्र यादव ने भी अपनी किताब 'उपन्यास और वर्चस्व की स□ा'[2] के जरिए कुछ ऐसी ही कैफ़ियत पैदा करने की कोशिश की है। इसलिए उनकी प्रस्थापनाओं पर विचार करने के लिए बेल हु□स की ये पंक्तियाँ खास तौर से उपयोगी हैं। दरअसल, अपने ग्यारह निबंधों के जरिए वीरेंद्र यादव ने दावा किया है कि उनके पास 'सबाल्टर्न' नाम की एक ऐसी 'उपयोगी' थीसिस है जिसके जरिए हिंदी उपन्यास को साहित्यिक गढ़ंत में सीमित कर देने वाली आस्वादपरक आलोचना के दायरे से निकाल कर कहीं व्यापक समाजशास्त्रीय आलोचना के दायरे में लाया जा सकता है। इसी मकसद से उन्होंने हिंदी उपन्यास की एक सबाल्टर्न प्रस्तावना पेश की है। वीरेंद्र यादव के सबाल्टर्न की मार बहुत व्यापक है। पुस्तक में प्रेमचंद के 'गोदान', यशपाल के 'झूठा सच', राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' और श्रीलाल शु□ल के 'रागदरबारी' जैसे कालजयी उपन्यासों से लेकर हाल ही स्त्री लेखकों द्वारा रचे गए उपन्यासों (अलका सारावगी, गीतांजलि श्री, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, मधु काँकरिया) और नए किस्म के आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यासों (अ□दुल बिस्मिल्लाह, वीरेंद्र जैन, बदीउज्जमाँ, भगवानदास मोरवाल, मनमोहन पाठक, श्रीप्रकाश मिश्र, तेजिंदर, कमलाकांत त्रिपाठी) तक नाना प्रकार के रुझानों और विषयवस्तुओं को एक ही कसौटी पर कसने की जुर्रत की की गई है। चूँकि अधिकतर निबंधों की प्रकृति पॉलिमिकल (विवादात्मक) है इसलिए सबाल्टर्न-निकष पर निर्मल वर्मा, रामविलास शर्मा, भीष्ण साहनी, खुशवंत सिंह, विनोद कुमार शु□ल, कुर्रुतुल एन हैदर, भगवान सिंह, सुरेंद्र वर्मा, दूधनाथ सिंह, पंकज मिश्रा और राजकमल झा भी दाखिल-खारिज किए गए हैं।

किसी भी लिहाज से यह एक विकट उद्यम है। रचनात्मक साहित्य की आलोचना के लिए मुश्किल से तीस साल पुरानी समाज विज्ञान की इस पद्धतिमूलक श्रेणी का ऐसा उपयोग हिंदी की दुनिया के लिए एक अनूठी बात है। वीरेंद्र यादव का यह दुस्साहस कम से कम दो प्रश्नों का उ□ार खोजने की संभावनाएँ जगाता है। पहला प्रश्न यह कि €या सबाल्टर्न अवधारणा के जरिए भारतीय आधुनिकता और आधुनिकीकरण के आ यान के रूप में

---

[1] बेल हु□स, 'मार्जिनलिटनी एज़ ए साइट ऑव रज़िस्टेंस', आर, फर्गुसन (सं.), *आउट देयर : मार्जिनलाइज़ेशन एंड कंटे परेरी कल्चर*, के ि ब्रज, एमआईटी, १९९०, पृष्ठ २४१-४३

[2] वीरेंद्र यादव, *उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता*, राजकमल, दिल्ली, २००९

हिंदी उपन्यास को समझने का कोई नया ढाँचा बनाया जा सकता है; और दूसरा यह है कि €या रचनात्मक साहित्य और समाज विज्ञान के संबंधों का कोई सामान्यीकरण, लिटरेरी थियरी से अलग, किसी अन्य सूत्रीकरण की श□ल में किया जा सकता है ?

I
आखिर यह सबाल्टर्न क्या है ?

आखिर सबाल्टर्न है □या ? हिंदी में इस समाजवैज्ञानिक पद का एक कमजोर सा अनुवाद उपल□ध है : नि न वर्ग या नि नवर्गीय प्रसंग।[3] लेकिन, इससे काम नहीं चल सकता, □योंकि मा□र्सवादी इतिहासलेखन की कोख से पैदा होने के बावजूद अंग्रेजी में सबाल्टर्न नामक श्रेणी का प्रयोग □लास या वर्ग की श्रेणी को गड़बड़ा देता है। वर्ग एक स्थिर श्रेणी है, पर सबाल्टर्न सापेक्षिक है। वर्ग एक बंद श्रेणी है, पर सबाल्टर्न दोनों सिरों पर खुली है। वैसे तो इतिहासलेखन में इस अवधारणा के आदिगुरु रंजीत गुहा समझे जाते हैं, पर विकास-क्रम में उसे साहित्यिक मुकामों तक ले जाने का श्रेय गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक को है। वे सतर्क करती हैं कि सिर्फ उत्पीड़ित होने से सबाल्टर्न होने की हैसियत प्राप्त नहीं की जा सकती। मजदूर वर्ग उत्पीड़ित है, पर केवल इसीलिए सबाल्टर्न नहीं है। सिर्फ भेदभाव के शिकार होने के नाते अल्पसं यक भी अपने आप सबाल्टर्न नहीं हो जाते। हो सकता है कि वे वर्चस्वी विमर्श की भाषा बोलते हुए स□ा में हिस्सेदारी माँग रहे हों। स्पिवाक ने सबाल्टर्न को नारीवाद और उ□ार-संरचनावाद से भी जोड़ा है और जेंडरीकृत सबाल्टर्न अस्मिताओं की तरफ ध्यान खींचने में कामयाबी हासिल की है।[4]

बेल हु□स के मुताबिक सबाल्टर्न वह है जो अपना प्रतिनिधित्व खुद करने का आग्रह करता है। विद्वानों, आलोचकों और इतिहासकारों को कोई हक नहीं है कि वे उसे महज एक जानने योग्य निष्क्रिय क□ाा में घटा दें, और सारी पहलकदमी और सक्रियता उनके हाथ में चली जाए। सबाल्टर्न की अवधारणा जानकारी के लक्ष्य और जानने का उद्यम करने वाले के बीच बँटे हुए ज्ञान के उस समीकरण को चुनौती देती है जिसे सबसे पहले पश्चिम की प्राच्यवादी विचारधारा ने स्थापित किया था। राष्ट्रवादी, उ□ार-राष्ट्रवादी और मा□र्सवादी इतिहासकारों ने प्राच्यवाद को तो खारिज कर दिया, लेकिन ज्ञान की इस राजनीति को अपना लिया।[5] १९७८ में एडवर्ड सईद ने जैसे ही *ओरिएंटलिज़म* लिख कर प्राच्यवाद की युगप्रवर्तक आलोचना की,[6] समाज विज्ञान की दुनिया में उ□ार-औपनिवेशिक अध्ययनों का समृद्ध दायरा बनने लगा जिसके तहत उस सबाल्टर्न अवधारणा के प्रवेश के लिए रास्ता खुल गया जिसके जनक इतालवी क युनिस्ट सिद्धांतकार एंटोनियो ग्रा शी थे। शुरु में सबाल्टर्न इतिहासकारों का ज़ोर किसान और आदिवासी विद्रोहों के आ यान पेश करने पर था, इसलिए लगता था कि वे मा□र्सवाद में संशोधन की तजवीज कर रहे हैं। पर आगे चल कर सबाल्टर्न की अवधारणा केवल इतिहासकारों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली एक पद्धति के दायरे से निकल कर बेहद विविधतामूलक और व्यापक होती चली गई। किसानों या नि नवर्ग तक सीमित न रह कर उसने एक भाववाचक संज्ञा का रूप ले लिया। सबाल्टर्न से

---

[3] यह अनुवाद स्वयं सबाल्टर्न इतिहासकारों द्वारा किया गया है। वीरेंद्र यादव ने भी अपनी किताब में इसी पद का इस्तेमाल किया है।

[4] लियोन डिकॉक, 'इंटरव्यू विद गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक : न्यू नेशन राइटर्स कांफ्रेंस इन साउथ अफ्रीका', *ए रिव्यू ऑव इंटरनेशनल इंग्लिश लिटरेचर,* २३(३), १९९२, २९-४७

[5] इतिहासलेखन के इस विकास की बेहतरीन व्या या के लिए देखें, ज्ञान प्रकाश, 'राइटिंग पोस्ट-ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्री ऑव दि थर्ड वर्ल्ड : पर्सपे□टव्ज़ फ्राम इंडियन हिस्टीरियोग्राफी', *कंपरेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी एंड हिस्ट्री,* ३२, १९९०, पृष्ठ ३८३-४०८

[6] एडवर्ड विलियम सईद, *ओरिएंटलिज़म : वेस्टर्न कंसेप्शन ऑव दि ओरिएंट,* (पहला संस्करण १९७८ में) पेंगुइन, दिल्ली, १९९५ (इस सस्करण में सईद ने अपनी थीसिस के आलोचकों को जवाब देते हुए एक नई पश्चात-भूमिका भी लिखी है)।

सबाल्टर्निटी या सबाल्टर्नीयता बनी और साहित्य व संस्कृति संबंधी अध्ययनों में इसका जम कर इस्तेमाल होने लगा। यह प्रक्रिया इस श्रेणी को कई तरह के धुँधलकों की तरफ ले गई।

इस दिक्कत के बावजूद सबाल्टर्नीयता के पैरोकार कम से कम यह दिखाने में कामयाब अवश्य रहे कि पूर्व बनाम पश्चिम, अपराध बनाम कानून, परंपरा बनाम आधुनिक, सेकुलर बनाम सेक्रेड, वर्गचेतना बनाम सामुदायिक चेतना, भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, प्रतिक्रिया बनाम प्रगति, स्त्री-अधीनता बनाम स्त्री-मुक्ति के द्विभाजनों को स्थापित करने की प्रक्रिया में □या छिपाया और □या उघाड़ा गया। कुल मिला कर सबाल्टर्न बड़ी पेचीदा चीज़ साबित हुई। इसीलिए स्पिवाक महाश्वेता देवी की रचनाओं को अंग्रेजी में पेश करते हुए इस नतीजे पर पहुँचीं कि सबाल्टर्न अनुवाद की प्रक्रिया में पकड़ में आता है। अर्थात सबाल्टर्न होने या न होने के बीच कहीं स्थित है। ज़रा से चूकते ही किसी न किसी स्थापित द्विभाजन या श्रेणी की जकड़ में फँस जाने का खतरा रहता है। स्थापित को अस्थिर करते रहने का नाम सबाल्टर्न है। वह किसी को अपने नाम पर फतवे देने और विशेषज्ञता का दावा करने की इजाजत नहीं देता। वह अपने अनुसंधानक□ार्ा या व्या याता से एक लाजमी किस्म की ज़िद करता है कि उसे खुद को केंद्रस्थ रखने की पुरानी तकनीकों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

वीरेंद्र यादव के दो-तीन शुरुआती निबंध पढ़ कर ही अंदाज लग जाता है कि पूरी किताब में उनका लहजा □या होगा। इससे दो बातों का सुराग लगाया जा सकता है। पहला, वे सबाल्टर्न और सबाल्टर्नीयता को एक प्रविधि के रूप में लेने जा रहे हैं। वे हिंदी में उसके ए□सपर्ट की मुद्रा में उभरना चाहते हैं। दूसरा, वे किसी और ज़माने के बारे में लिखे गए उपन्यासों का पाठ करते हुए अपने हिसाब से तात्पर्य-निरूपण करके उसे आज के राजनीतिक विमर्श पर प्रोजे□ट करने का तरीका अपनाएँगे। जो भी हो, पहली प्रविधि के बावजूद उनसे यह उ मीद की जा सकती है कि उन्होंने सतर्कता बरती होगी। न स्थापित श्रेणियों के चक्कर में फँसे होंगे, और न ही खुद के वैचारिक आग्रहों को केंद्रस्थ करके सबाल्टर्न की आड़ में आखेट किया होगा। इसी तरह दूसरी प्रविधि के बावजूद उनसे आशा की जा सकती है कि वे 'मंडल, मंदिर और भूमंडल' की प्रचलित राजनीति से निकले सतही और आसान द्विभाजनों से बचते हुए गहराई में गए होंगे और इस प्रक्रिया में भारतीय लोकतंत्र और समाज की बेहतर समझ बनाने का उद्यम किया होगा। इन दोनों बेहतरीन संभावनाओं से भी ऊपर उठ कर हमें वीरेंद्र यादव से यह माँग करने का भी हक है कि वे मेरे जैसे समाज वैज्ञानिक के सामने साहित्य का अनुशीलन करने का एक आदर्श नमूना पेश करेंगे। वे एक ऐसी भाषा और विवेचना का मुजाहिरा करेंगे, जो उन पारंपरिक साहित्यालोचकों को खामोश कर देगी जो सीएसडीएस जैसे समाज विज्ञान के केंद्र में आकर कहते हैं कि साहित्य को समाजशास्त्रीय गढ़ंत के रूप में नहीं देखना चाहिए।

II

सबाल्टर्न या 'जस्ट ए क्लासी वर्ड फॉर आप्रेस्ड'?

आइए, देखें पुस्तक के पहले निबंध 'हिंदी उपन्यास : एक सबाल्टर्न प्रस्तावना' और दूसरे निबंध 'संदर्भ गोदान' में वे अपने बाकी लेखों की भावभूमि किस प्रकार रचते हैं। उनकी पहली 'सबाल्टर्न' स्थापना यह है कि अभिजन और नि नजन को 'अलग-अलग पटरियों पर' देखने के बजाय 'पारस्परिक आश्रय, संबंध और द्वंद्व' के आईने में देखना चाहिए। दूसरी प्रस्थापना यह है कि नि नवर्ग की चेतना में बदलाव की शिना त करने के लिए हमेशा ऊर्ध्वगामी प्रक्रियाओं पर ही नहीं बल्कि अधोगामी प्रक्रियाओं पर भी नज़र रखनी चाहिए। तीसरी प्रस्थापना यह है कि मंडल के जरिए हुआ मध्य जातियों का उभार सवर्ण के खिलाफ अवर्ण श्रेणी की दावेदारी

है। चौथी प्रस्थापना यह है कि भारत की साझी और सामासिक संस्कृति को छिन्न-भिन्न करने का काला कारनामा धार्मिक कट्टरवाद ने अंजाम दिया है। उनकी यह प्रस्थापना आगे के निबंधों में और स्पष्ट होती है जब वे बताते हैं कि सा प्रदायिकता की जड़ में धार्मिक फासीवाद और 'बद्धमूल धार्मिक संस्कार' हैं। उनकी पाँचवीं प्रस्थापना यह है कि भारतीय समाज में पितृसŽा स्त्री को पंचम वर्ण की स्थिति में धकेल देती है।

ये प्रस्थापनाएँ वीरेंद्र यादव को अभिजन के मुकाबले नि नजन के, पुरुष की स ा के मुकाबले स्त्री के, सवर्ण के बजाय अवर्ण के, सा प्रदायिकता के खिलाफ धर्मनिरपेक्षता के और 'सेक्रेड' के बजाय 'सेकुलर' के पैरोकार की तरह पेश करती हैं। लेकिन, इसमें खास बात या है? ऐसी आसान, सुरक्षित, सुविधाजनक और 'पॉलिटिकली करे ट' प्रस्थापनाएँ तो साहित्य की दुनिया में वामपंथियों और उदारतावादियों द्वारा मुद्दतों से की जा रही हैं। ये तो सब पुरानी श्रेणियाँ हैं, पुराने द्विभाजन हैं। या पुराना मा र्सवाद इस तरह की दावेदारी के लिए काफी नहीं है। सिर्फ उसमें थोड़ा सा नारीवाद को छोंक ही तो चाहिए जिसे सोशलिस्ट फेमिनिज़म के जरिए आसानी से हासिल किया जा सकता है। सबाल्टर्न का आह्वान करने की या जरूरत थी? केवल निर्मल वर्मा के सेकुलरद्रोही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का खंडन करने से, या रामविलास शर्मा की साँचे ढली वर्गवादी दृष्टि की आलोचना करने से, या पुरुष की रत्यात्मक भोगवादी निगाह को आड़े हाथों लेने से तो कोई नई बात नहीं बनती। €या नि नवर्ग की अभिजन से विवशतापूर्ण और परिस्थितिजन्य सह-अपराधिता (बकौल वीरेंद्र यादव के भारतीय ग्रा य समाज की सीमा के तहत) को खारिज न करके हमदर्दी से देखना ही वीरेंद्र यादव को हिंदी का सबाल्टर्न सिद्धांतकार बनाने के लिए काफी समझा जाना चाहिए? पूरी पुस्तक में अगर कहीं सबाल्टर्न समझ का सदुपयोग करके कोई नई बात कहने की कोशिश नज़र आती है तो वह शायद यही है। हालाँकि सबाल्टर्न थीसिस की बारीकी में जा कर इसे भी प्रश्नांकित किया जा सकता है। पूछा जा सकता है कि सबाल्टर्न थीसिस नि नवर्गीय 'चेतना के बदलाव की प्रक्रिया' में कब से दिलचस्पी लेने लगी? यह काम तो पुराने मा र्सवादी करते थे। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने तो अपनी शुरुआत विद्रोही किसानों और आदिवासियों में राजनीतिक चेतना के स्वाभाविक रूपों की शिना त से की थी। नि नवर्गीय प्रसंग को 'ऊर्ध्वगामी' और 'अधोगामी' में बाँट देने का फैसला करने का अधिकार अपने हाथ में लेकर वीरेंद्र यादव खुद को 'सेंटर' में ले आते हैं, जबकि सबाल्टर्न उनसे 'डि-सेंटर' होने की माँग करता है ताकि वह खुद हाशिये से निकल कर केंद्र में आ सके।

जाहिर है कि वीरेंद्र यादव ने सबाल्टर्न को 'जस्ट ए लासी वर्ड फॉर ओप्रेस्ड' मान लिया है, जबकि स्पिवाक ने इसी के खिलाफ चेताया था। सबाल्टर्नीयता उनके हाथ से फिसल चुकी है। लेकिन, कोई बात नहीं। यह बड़ी ज़ालिम चीज है, लगातार बनती-बिगड़ती रहती है। अगर ये लेख पच्चीस साल पहले सामने आते तो बात ज्यादा समझ में आती। उस समय मध्य जातियों का लोकतांत्रिक उभार सबाल्टर्नीयता के कुछ त वों की चुगली खा रहा था। ऐसा लगता था कि ऊँची जातियों के राजनीतिक प्रभुत्व को इससे चुनौती मिलेगी। राजनीति की भाषा बदलेगी। रजनी कोठारी किसान जातियों के रूप में 'राजनीति के नए उद्यमियों' के मंचस्थ होने की भविष्यवाणी कर चुके थे। लेकिन, सवाल यह है कि 'आधा गाँव' में वर्णित शिया अभिजनों द्वारा शोषित-उत्पीड़ित अहीर के आईने में मध्य जातियों का वह पॉलिटिकल इलीट कैसे देखा जा सकता है जो पिछले बीस साल में उभर आया है? वीरेंद्र यादव ने यह कमाल कैसे किया? साठ साल पहले की मध्यजातियों और उ ार-मंडल मध्यजातियों में उन्हें जरूर अंतर दिखता होगा। 'प्रोसीजरल डेमोक्रैसी' के सर्वेक्षणवादी सिद्धांतकार मध्य जातियों के इस

उभार को जब लोकतांत्रिक उभार[७] की संज्ञा देते हैं तो उनका संदर्भ चुनावी राजनीति होता है, और हम सब उनकी आवाज में आवाज मिलाते हैं। लेकिन, जो बात वोट डालने के संदर्भ में सही है, वह समाज और संस्कृति की ज़मीन पर नि नजन के एक हिस्से के अभिजन में त□दील होते जाने की प्रक्रिया की तरफ इशारा भी करती है। यह प्रक्रिया सकारात्मक इसलिए है कि इससे लोकतंत्र का टिकाऊपन बढ़ता है। जिस लोकतंत्र के इलीट का साइज़ बढ़ता रहता है, उसे कभी वैधता के संकट का सामना नहीं करना पड़ता। भारतीय लोकतंत्र दलित जातियों और मध्य जातियों को आरक्षण और लोकतांत्रिक राजनीति के जरिए आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सहभागी बना सका है। यही काम अब वह स्त्रियों के लिए करने के मूड में है। यह उसकी कामयाबी है। इसी के चलते 'आधा गाँव' का अहीर आज का यादव है। रेणु के मेरीगंज का जो यादव जनेऊ पहनने के बावजूद एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रतिपादित 'संस्कृतिकरण' को उपल□ध नहीं कर पाया, वह उन्हीं द्वारा प्रतिपादित 'प्रभुत्वशाली जाति' की गति को प्राप्त हो चुका है। कल की सबाल्टर्नीयता के दम पर आज की सबाल्टर्नीयता स्थापित नहीं की जा सकती। दलित व स्त्री के प्रश्न पर आज के यादव राजनेता का सार्वजनिक आचरण नई जाँच-पड़ताल की माँग करता है। वह स□ा में हिस्सेदारी की राजनीति में उलझा हुआ है, जो अपने-आप में कोई बुरी बात नहीं है। पर, वह अभिजन बन चुका है, उसकी जाति रेड्डी, क मा, लिंगायत, वोक्कलिगा, मराठा और जाट के तर्ज पर समाजशास्त्रीय श□दावली में 'डॉमिनेंट कास्ट' बन चुकी है, जिसे सुप्रीम कोर्ट की भाषा में मलाईदार परत कहते हैं। इसी डॉमिनेंट कास्ट की परिघटना ने ब्राह्मणवाद के पुराने सूत्रीकरण को मनुवाद के नए संस्करण में बदलने के लिए मजबूर कर दिया है।[८]

दूसरे, मध्य जातियों को सबाल्टर्न करार देने के चक्कर में वीरेंद्र यादव पारंपरिक वर्णव्यवस्था की समाजशास्त्रीय परिभाषाओं का कबाड़ा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। श्यामाचरण दुबे का हवाला दे कर उपन्यास को समाजशास्त्रीय अध्ययनों से भी अधिक प्रामाणिक करार देना आसान है, पर उसकी प्रामाणिकता की पैरोडी □यों बनाई जानी चाहिए? मध्य जातियाँ कब से अवर्ण होने लगीं? राही मासूम रज़ा के पाठ में वे सबाल्टर्न दिखती हैं, पर अवर्ण वहाँ भी नहीं हैं। ब्राह्मणों, ठाकुरों और बनियों के बाद चौथा वर्ण मध्य जातियों से बनता है। वर्णहीन या अवर्ण तो केवल दलित, या संविधान की भाषा में पूर्व-अछूत ही हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि शूद्र जातियों का सामाजिक अस्तित्व पहले तीन वर्णों से अलग नहीं है। इस अलगाव को दर्शाने के लिए पहले तीन वर्णों को हिंदी में द्विज जातियों के नाम से दिखाया जाता है। पर, वीरेंद्र यादव इस पद का उपयोग नहीं करते। यह उनकी समाजवैज्ञानिक चैतन्यता पर अच्छी टिप्पणी नहीं है। तीसरे, जिस तरह राही का अहीर आज के यादव के रूप में प्रोजे□ट नहीं हो सकता, उसी तरह रेणु द्वारा किया गया हिंदू एकता का भेदन आज की हिंदुत्व-राजनीति की आलोचना का वाहक नहीं बन सकता। वह कल की हिंदुत्व-राजनीति के सपाटपन के मुकाबले पेचीदा है। सा प्रदायिक दुष्कर्मों के मामले में वह उ□ार प्रदेश, गुजरात और कर्नाटक में नि नवर्गीय पहलकदमी का विनियोग करने में कामयाब है। चुनाव के मैदान में वह मध्य जातियों के एक प्रभावशाली हिस्से और ऊँची जातियों के संश्रय पर टिकी है। वह केवल उच्च जातियों की मध्य जाति विरोधी एकता के दम पर स□ा में नहीं आया है। उसके पास दलितों को भी अपने साथ जोड़ने की मह□वाकांक्षा भी है। उसका ब्राह्मणवाद वह नहीं रह गया है जो आज़ादी से पहले या कुछ बाद में दिखता था। चुनावी आँकड़ों से यह सौ फीसदी साबित हो चुका है।[९]

---

[7] योगेंद्र यादव,

[8] धीरूभाई शेठ,

[9] अभय कुमार दुबे,

III

साहित्य और समाज विज्ञान : अंतर्संबंधों की समस्या

रचनात्मक साहित्य की समाजशास्त्रीय जाँच-पड़ताल का प्रोजे□ट श्लाघनीय है, पर उसके लिए दो बातें समझना जरूरी लगता है। पहली बात तो यह है कि उपन्यास या किसी भी अन्य विधा की साहित्यिक गढ़ंत के रूप में आलोचना करना भी स्वयं में एक तरह की सोशल साइंस है। लिटरेरी थियरी समाज विज्ञान के अनिवार्य अंग के रूप में उसे समृद्ध करती है और आस्वादपरक आलोचना समाज विज्ञान की एंटीथीसिस नहीं है। साहित्य कोई सर्वे रपट नहीं है जिसकी मीमांसा आस्वादपरकता को खारिज करके की जा सकती हो। हर साहित्यालोचक सोशल साइंटिस्ट है, भले ही वह पॉलिटिकल साइंस या एंथ्रोपलॉजी की दुनिया से पेशेवराना ताल्लुक न रखता हो। एडवर्ड सईद और स्पिवाक इसके उदाहरण हैं। सईद के बिना तो आज का समाज विज्ञान कल्पनातीत है, और वे मु यतः साहित्य के आदमी हैं। तकरीबन पूरा फेमिनिज़म (जिसके बिना समाज विज्ञान की मौजूद श□ल-सूरत समझना असंभव है) साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाली विदुषियों ने रचा है।

फिर भी, अगर प्रचलित साहित्यालोचना से अलग ज़मीन पर साहित्य का अनुशीलन करना है, और भाषा और अनुभूति पर केंद्रस्थ न रह कर समाज विज्ञान के स्थापित सिद्धांतों की रोशनी में ही उसकी रीडिंग करनी है तो लाजमी तौर पर तय करना पड़ेगा कि ऐसा करते हुए सरोकार मु य तौर पर एक पेशेवर समाजवैज्ञानिक के ही रहेंगे। जो समाज वैज्ञानिक यह निर्णय लेने में कामयाब नहीं होगा, उसके हाथ न साहित्य आएगा और न ही समाज विज्ञान। ऐसा अनिवार्य निर्णय लेने वाला समाज वैज्ञानिक अपने सैद्धांतिक ज्ञान का इस्तेमाल बड़ी सावधानी से करेगा। मध्य जातियों को अवर्ण कहने के चक्कर में फँसना (पत्रकारों की दुनिया बड़ी खुशमिजाज़ी से यह काम करती रहती है) तो दूर की बात रही, वह स्त्री और पंचम वर्ण को परस्परव्यापी श्रेणी के रूप में पढ़ने के लिए कभी तैयार नहीं होगा, □योंकि उसे पता होगा कि नारीवादी विमर्श और दलित विमर्श दो भिन्न श्रेणियाँ हैं।[१०] एक दूसरे को समर्थन देते हुए वे एक मुकाम पर परस्पर टकराव में चली जाती हैं। इस विचारो□ाजक बहस से दलित नारीवाद की संरचना बनती है जो पाले के एक तरफ नारीवादी आंदोलन की उन निष्पा□ायों को भी प्रश्नांकित करती है जो ऊँची जाति की अंग्रेजी पढ़ी-लिखी औरतों से पगी हुई हैं, दूसरी तरफ दलित एकता के महाआ यन को भी गड़बड़ाती है। वीरेंद्र यादव दलित विमर्श का एकाधिक बार जिक्र तो करते हैं, पर देखने की बात यह है कि वे दलित विमर्श पर खास तौर से कोई रोशनी नहीं फेंकते। दलित लेखकों ने उपन्यास शायद नहीं लिखे हैं, पर उन्होंने आत्मकथाएँ तो लिखी ही हैं। उपन्यास की तरह आत्मकथा भी तो आधुनिकता का आ यान है। साहित्य में दिलचस्पी रखने वाला समाज वैज्ञानिक न तो आत्मकथाओं की उपेक्षा कर सकता है, और न ही वह साहित्य में चल रहे दलित विमर्श के राजनीति के धरातल पर चल रहे दलित विमर्श से अंतर्विरोध की तरफ से नज़र फेर सकता है।[११]

इसी तरह वह समाज वैज्ञानिक ओरिएंटलिज़म, ब्राह्मणवाद और हिंदू एजेंडे को गड्डमड्ड करने से पहले सौ बार सोचेगा। सा प्रदायिकता धार्मिक कट्टरता की उपज है या एक खास तरह की बहुसं यकवादी राजनीति की, इसके बारे में किसी को कोई गलतफहमी हो तो हो, समाज विज्ञान की दुनिया इस बहस के आगे काफी दूर तक यात्रा कर चुकी है। सा प्रदायिकता, फासीवाद और धार्मिक कट्टरता जैसी अलग-अलग श्रेणियों में घालमेल

---

[10] चमन लाल द्वारा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में नारीवादी और दलित विमर्श की भिन्नताओं और समानताओं पर हुए एक सेमिनार में इस मुद्दे पर दिलचस्प बहस हो चुकी है।

[11] शिमला के एडवांस स्टडी इंस्टीट्यूट में सितंबर, २००९ में हुए हिंदी-सप्ताह (हिंदी की आधुनिकता : एक पुनर्विचार) में इन मुद्दों पर गंभीर चर्चा हुई।

करना तो केवल पक्षकारों को शोभा देता है। उसे नहीं जो सबाल्टर्न थीसिस का पैरोकार हो। सबाल्टर्न कलेि□टव के प्रतिष्ठित सदस्य पार्थ चटर्जी सफलतापूर्वक इन श्रेणियों की भिन्नता प्रदर्शित कर चुके हैं।[१२] इसके अलावा वह केवल उन्हीं किताबों का जिक्र करेगा, जिनके बारे में उसे पता होगा कि उनके पन्नों पर □या लिखा है। मसलन, वह निकोलस डिर्क की किताब का जिक्र करने से पहले यह भी सोचेगा कि कहीं डिर्क की प्रस्थापनाएँ उसकी अपनी थीसिस के खिलाफ नहीं चली जाएँगी। आखिर डिर्क जाति की श्रेणी के अंग्रेजों द्वारा किए गए अराजनीतिकरण की आलोचना करते हैं। अगर उनकी आलोचना सही है तो फिर ब्राह्मणवाद की श्रेणी का बार-बार आह्वान करने का मतलब ही नहीं रह जाएगा। यह भी पूछा जाना चाहिए □या डिर्क की रचना 'कास्ट्स ऑव माइंड' दलित और पिछड़े उभार के बारे में है? क्रिस्टोफर जेफ्रेलाट और सुधा पै की किताबों से उसकी तुक कैसे मिलती है? फिर, घनश्याम शाह की किताब 'कास्ट एंड डेमोक्रेटिक पॉलिटि□स इन इंडिया' तो एकदम अलग किस्म की समाज वैज्ञानिक परियोजना का नतीजा है। यह लेखों का संकलन है जिसमें कांशीराम पर मेरा भी लेख छपा है।

संदर्भच्युत ढंग से पुस्तकों और विदेशी लेखकों के नाम टपका कर आस्वादपरक आलोचना के समांतर कोई ढाँचा खड़ा नहीं किया जा सकता। यह पूछा जा सकता है कि अगर दूधनाथ सिंह की रचना 'आखिरी कलाम' ने हिंदी उपन्यास के ढाँचे में संरचनात्मक और वैचारिक तोड़-फोड़ कर डाली है, तो □या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह कारनामा डेविसन बूदू ने किया है? वीरेंद्र यादव ने पृष्ठ २२५ पर एक पूरा पैरा जिस तरह रचा है, उससे तो यही लगता है। यह डेविसन बूदू नामक श स कौन है? अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में ग्रेनेडा के अर्थशास्त्री बूदू ने कोष से इस्तीफा देने के बाद उसके चेयरमैन को 'इनफ़ इज़ इनफ़' शीर्षक के एक पुस्तकाकार पत्र लिख कर काफी नाम कमाया था (आईएमएफ और अमेरिका को गरियाने के लिए इस किताब का उन दिनों जम कर इस्तेमाल किया गया)।[१३] नवउपनिवेशवाद के आर्थिक साम्राज्य के खिलाफ लड़ रही शक्तियों ने उन्हें अपना हीरो बना कर पेश किया। वे भारत आए। मैंने उनसे दो मुलाकातें कीं। 'जनस□ा' के लिए एक लंबा इंटरव्यू भी लिया। बूदू ने दावा किया कि वे भारत के लिए विकास का वैकल्पिक मॉडल लिख रहे हैं। यह दावा ठोक कर हमारा वह हीरो लापता हो गया। कई साल गुज़र चुके हैं, और भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में उसके द्वारा की गई प्रलय की तमाम भविष्यवाणियाँ गलत साबित हो चुकी हैं। इस बीच में खुद आईएमएफ मह□वहीन हालत में पहुँच गया, □योंकि नई विश्व आर्थिक प्रणाली ने ब्रेटनवुड एग्रीमेंट के आधार पर बनी प्रणाली को गैर-जरूरी बना दिया है। बकौल वीरेंद्र यादव हमारा हीरो हीरालाल उपन्यास लिख कर वापसी कर चुका है। लेकिन, आईएमएफ की जनविरोधी भूमिका (जो लगभग स्वयंसिद्ध है) पर प्रश्न चिह्न लगाने वाले उपन्यास से □या कुछ बनेगा? 'आखिरी कलाम' और उपन्यास की संरचना में उथल-पुथल मचाने की परिघटना से बूदू का 'नाइट ऑव डेस्टिनी' कैसे जुड़ता है? दरअसल, डेविसन बूदू हमारी अपनी अरुधंती राय का रिवर्स रिप्रज़ेंटशन करते हैं। अरुधंती अपनी 'कोर कॉ पेंटस' छोड़ कर इकहरा भूमंडलीकरण विरोधी श□दाड बर रचती हैं। उनके एक-एक तात्पर्य का पूर्वानुमान आसानी से लगाया जा सकता है। नतीजे के तौर पर उनके लेखन में उ दा अंग्रेजी को छोड़ कर एक भी नई अंतदर्ृष्टि नहीं मिलती। ठीक उसी तरह जैसे बूदू के अर्थशास्त्र से नियो□लासिकल इकॉनॉमी का कोई विकल्प नहीं निकलता। पता नहीं वीरेंद्र यादव ने 'नाइट ऑव डेस्टिनी' में कौन सा तीर चलते हुए देखा?

---

[12] पार्थ चटर्जी, 'सेकुलरवाद और सहिष्णुता', अभय कुमार दुबे (सं.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, वाणी, दिल्ली, २००५

[13] डेविसन बूदू की इस रचना का भारत में

अगर कोई समाज वैज्ञानिक अपनी पेशेवर ज़मीन पर खड़े हो कर साहित्य का अनुशीलन करेगा तो उसे साहित्य की भीतरी राजनीति और गुटबाजी में फँसने की कोई जरूरत नहीं होगी। पेशेवर समाज वैज्ञानिक वर्माओं और शर्माओं से मारधाड़ में दिलचस्पी नहीं रखेगा। मसलन, निर्मल वर्मा की 'भारतीयता' को सेकुलरद्रोही के रूप में चिह्नित करने के बजाय (जिसकी कोई जरूरत नहीं ही नहीं है, □योंकि निर्मल खुद को उसी मुद्रा में पेश करते हैं) वह उसकी समीक्षा के लिए आधुनिकता की उन आलोचनाओं की शरण में जाएगा जो पिछले बीस साल से समाज विज्ञान की दुनिया को आवेशित कर रही हैं। तब उसे दिखेगा कि निर्मल का दक्षिणपंथी हिंदू उस वामपंथी हिंदू के प्रतिकार में खड़ा हुआ है जो आज़ादी के बाद साहित्यिक-सांस्कृतिक विमर्श पर छा गया था और उसके उस वर्चस्व में खुद निर्मल वर्मा ने कभी भागीदारी की थी। निर्मल का अध्यात्म हो या अंग्रेजी उपन्यासकार पंकज मिश्रा के 'रोमांटि□स' का वैराग्य हो, उसकी आलोचना आधुनिकता की आलोचना की ज़मीन पर ही हो सकती है। अगर किसी को उ□ार-आधुनिकतावादी मुहावरा नापसंद है, तो भी कोई बात नहीं। आधुनिकता की आलोचना को औजार के रूप में इस्तेमाल करने के लिए उ□ार-आधुनिक होना अब कोई जरूरी नहीं रह गया है। यही वह आधार है जिस पर खड़े हो कर कोलाहल से दूर अपने अरण्यों में भटक रहे पात्रों की मीमांसा हो सकती है। निर्मल वर्मा जब अपने पात्रों को अरण्य में देखते हैं, तो दरअसल वे हमारे समाज वैज्ञानिक को अपनी रचनाएँ इसी निकष पर कसने का निमंत्रण देते हैं। इस बुलावे को कई कोणों और कई स्तरों पर सुनना होगा। कहीं उनका अरण्य उनकी अपनी आलोचना का रूपक तो नहीं है? उनके अरण्य बदलते रहे हैं। कभी उनके अरण्य हमारे जैसे लोगों को पसंद भी आते थे। इसलिए, हम उन्हें उनकी समस्त जटिलता में □यों न स्वीकार करें? हिंदूवादी, सेकुलरविरोधी, ब्राह्मणवादी वगैरह कह कर ऐसी रचनाओं को खारिज तो किया जा सकता है, पर उनकी आलोचना नहीं हो सकती। निर्मल वर्मा से निबटना है तो उनकी शर्तों पर, उनकी सबसे मजबूत कड़ी पर और उनके मर्म पर निगाह डालनी होगी। उस मर्म पर, जिसे हिंदी की मा□र्सवादी आलोचना ने कभी अपने खेमे की ही एक प्रवृ□ा के रूप में चिह्नित किया था।

धर्मनिरपेक्षता की रक्षा अगर करनी है, तो फिर यह बताना पड़ेगा कि आखिर किस धर्मनिरपेक्षता की चर्चा की जा रही है। धर्मनिरपेक्षता तो अब कोई एक मोनोलिथिक और सार्वभौम विचार नहीं रह गया है जो हर देश-काल और परिस्थिति में एक ही रहे। सेकुलरिज़म श□द के हिंदी या उर्दू में जितने भी अनुवाद हैं (धर्मनिरपेक्षता, सर्वधर्मसमभाव, पंथनिरपेक्षता या ला दीनियत) उनके पीछे कोई न कोई वैचारिक राजनीति है।[१४] निर्मल वर्मा भी हर तरह के सेकुलरवाद के खिलाफ नहीं हैं। उनका और प्रभाष जोशी का सेकुलरवाद एक है। दोनों ही 'हिंदू होने का धर्म' निभाना चाहते हैं। जिस सेकुलरिज़म को वे गंदा नाला कह रहे हैं, वह इनमें से किस अनुवाद में फिट बैठता है और किस अनुवाद के पक्ष में वे हैं, इसे समझने की कोशिश करना हर उस व्यक्ति का फर्ज है जो खुद को समाजशास्त्रीय दृष्टि का वाहक बताता है।

साहित्य का समाजशास्त्रीय अनुशीलन करने वाला समाज वैज्ञानिक अपने अनुशासन की कीमत पर फिकरेबाजी से भी बचेगा। वह न केवल अपनी सेकुलरिज़म संबंधी अवधारणा का खुलासा करेगा, बल्कि स्त्री विमर्श और दलित विमर्श जैसी अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करते हुए स्पष्ट करेगा कि आखिर इनसे उसका बुनियादी मतलब □या है। आखिर विचारों के क्षेत्र में ये सभी विमर्श भीतर और बाहर से 'कंटेस्टिड' होने के नाते लगातार

विकासमान हैं। उनके कई संस्करण हैं। जब कोई उपन्यास लिखा जाता है, तो उसमें स्त्री पात्र होते हैं। उपन्यासकार उनके बारे में कुछ न कुछ कहता ही है। वह सब कुछ स्त्री विमर्श के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। समाज विज्ञान में स्त्री विमर्श का एक खास मतलब है और वह हर जगह मौजूद नहीं होता, बल्कि उसे समाज वैज्ञानिक अपनी विद्व□ा और विश्लेषण क्षमता के जरिए 'कंस्ट्र□ट' करता है। इसके लिए नारीवादी विमर्श और से□शुअलिटी स्टडीज़ में पारंगत होना आवश्यक है। पुरुष की रसिक-भोगवादी निगाह □या है? मैत्रेयी पुष्पा नारीमुक्ति को देहमुक्ति में कैसे रिड्यूस करती हैं? ये सब दावे व्या या की माँग करते हैं। पुरुष की लालसा □यों ल पट लगती है और स्त्री का पुरुष के प्रति दैहिक आकर्षण कैसे उदा□ा बन जाता है, यह विश्लेषण से□शुअलिटी स्टडीज़ के जरिए ही स पन्न किया जा सकता है। वरना सिर्फ अपनी पसंद से किए गए दावों के अलावा कुछ नहीं रह जाएगा। गीतांजलि श्री के उपन्यास की बेहतरीन उपलि□ध यानी स्त्री समलैंगिकता हाथ से फिसल जाएगी। इसी तरह अनामिका के उपन्यास से उद्धरण तो अच्छा छाँट लिया जाएगा, पर 'मल्टीपल इंटीमेसी' की अवधारणा पकड़ में नहीं आएगी। जहाँ तक पितृस□ा का सवाल है, वह तो हर जगह है। हर व्यवस्था में है, हर वैचारिक आंदोलन में है। उसका एक रूप हटता है तो दूसरा बदला हुआ रूप उसकी जगह लेता है। सबाल्टर्न और नारीवाद के संश्रय की खूबी यही है कि वह पितृस□ा के ' यूटेशंस' का पता लगाता है। वीरेंद्र यादव के आधे-अधूरे प्रयास ने एक बार फिर साबित किया है कि अभी हिंदी में स्त्री लेखन की आलोचना के हरबे-हथियार विकसित नहीं हुए हैं। जब वे कहते हैं कि ये उपन्यास भारतीय समाज में स्त्री प्रश्न का कोलाज सा रचते दीखते हैं, तो साफ हो जाता है कि उस कोलाज के घटकों को अलग-अलग साफ-साफ देखने का उपक्रम उनसे नहीं बन पाया है।

IV

कृपया नाराज़ न हों, यह काम बड़ा मुश्किल है!

मुझे पूरा शक है कि वीरेंद्र यादव और उनके हमदर्द इस किताब की यह समीक्षा पढ़ कर नाराज़ हो जाएँगे। हिंदी में आलोचना को निंदा मानने की हाहाकारी परंपरा है। विचारों के धरातल पर किसी को 'एंगेज' करना नामुमकिन सा हो गया है। लेकिन, इसके अपवाद भी हैं। बरसों पहले राजेंद्र यादव के लेखों के चार संकलनों ('काँटे की बात') की समीक्षा 'एक दूसरे को काटती हुई बातें' के रूप में करने पर मुझे सुखद अनुभव हुआ था। राजेंद्रजी नाराज़ नहीं हुए, बल्कि उनके संबंध प्रगाढ़ ही हो गए। आज भी उनके साथ मेरी बौद्धिक मैत्री है जिसके तहत हम आपस में कभी-कभी बहस भी करते हैं। एक प्रतिष्ठित वरिष्ठ के साथ मेरे जैसे कनिष्ठ की यह दोस्ती मेरी निजी उपलि□ध है। वीरेंद्र यादव के साथ तो केवल लखनऊ में हुई एक क्षणिक मुलाकात भर है, पर न जाने मुझे €यों उ मीद है कि उनके बहाने (दरअसल, जो मैंने लिखा है वह समीक्षा है ही नहीं) जो बातें मैंने कहीं हैं उन पर अच्छी बहस होगी जिसके सकारात्मक नतीजे निकलेंगे। मुझे लगता है कि मुझे काफी-कुछ सीखने का मौका मिलेगा। वैसे भी आलोचना के प्रवाह में उनके प्रयास की वाजिब प्रशंसा करने और उनकी अंतदृष्टियों को उभारने के मौके का मैं फिलहाल सदुपयोग नहीं कर पाया हूँ। दूसरे, साहित्य का अनुशीलन करने वाले पेशेवर समाज वैज्ञानिक के जरिए मैंने जो बातें कही हैं, उन्हें व्यवहार में उतारना बहुत मुश्किल है। साहित्य पकड़ में आता है तो समाज विज्ञान छूट जाता है, और समाज विज्ञान पर ज़ोर देने पर साहित्य पर अत्याचार हो जाता है। मैं यह दावा करने की कतई जुर्रत नहीं कर सकता कि मैं यह आदर्श संतुलन उपल□ध कर सकता हूँ। हम हिंदी वालों को ही नहीं, बल्कि समाज विज्ञान को भी अभी इस कला में महारत हासिल करना बाकी है।

लेखक विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम में संपादक है।